भारत में शिक्षा का निजीकरण व सामाजिक न्याय संबंधी जटिलताएँ

रश्मि श्रीवास्तव*

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के बीच विकास और वैश्वीकरण के संदर्भों में शिक्षा का निजीकरण एक ज़रूरत है, लेकिन भारत में शैक्षिक प्रशासन व प्रबंधन से जुड़े हुए वर्ग ने शिक्षा के निजीकरण का गलत फ़ायदा उठाने की कोशिश की है। इससे हमारे शैक्षिक उद्देश्यों में निहित सामाजिक न्याय की भावना आहत हुई है। महंगी शिक्षा, झूठी शान-शौकत, विद्यालयी परिवेश का भारतीय परिवेश से भिन्न होना, लाभ-हानि के फ़ेर में शिक्षा के समान अवसरों की अवहेलना, विद्यालयों-महाविद्यालयों में प्रवेश का आर्थिक आधार व विद्यार्थी की योग्यता की अनदेखी आदि ऐसी स्थितियाँ हैं, जिसने शिक्षा के माध्यम से समाज में वर्ग भेद की जड़ को मज़बूत किया है। बाज़ारीकरण पर आधारित इस व्यवस्था में भारतीय सभ्यता व संस्कृति की अवहेलना हुई है। छात्र-छात्राओं को पाश्चात्य सभ्यता के प्रति आकर्षित कर इन विद्यालयों ने उन्हें ऐसे दो राहे पर खड़ा किया है, जहाँ वे सही दिशा के प्रति भ्रमित हैं। अतः बहुत ज़रूरी है कि हमारी व्यवस्थाएँ शिक्षा के निजीकरण से उत्पन्न समस्याओं के प्रति सचेत हों।

आधुनिक युग में हुए ढेरों सामाजिक-आर्थिक बदलावों से भारत में शिक्षा का क्षेत्र भी अछूता नहीं रहा है। शिक्षा शब्द के उच्चारण के साथ भारतीय जनमानस के मन-मस्तिष्क में प्रायः आकृति उभरती है — आशीर्वाद व स्नेह के साथ सर्वस्व समर्पण को प्रतिबद्ध एक स्नेहपूर्ण शिक्षक और उसके दिव्य प्रभाव से नतमस्तक शिक्षार्थी की। ध्यानपूर्वक देखें तो यहाँ अंतर्मन की भावनाएँ प्रधान हैं, लाभ-हानि के संदर्भ शून्य। हमने अपनी आज की शिक्षा व्यवस्था

**असिस्टेंट प्रोफ़ेसर*, (बी. एड.) महिला विद्यालय डिग्री कॉलेज, लखनऊ, उत्तर प्रदेश – 226012

में निजीकरण के माध्यम से इन भावनाओं और संवेदनाओं को अस्त-व्यस्त किया है। आधुनिक संदर्भों में आए बदलावों के साथ शिक्षा के क्षेत्र में भी हेर-फ़ेर हुए हैं। इनमें निजीकरण एक बड़ा मुद्दा बनकर सामने आया है, जिसने भारत की शिक्षा के परंपरागत ढाँचे व उसकी व्यवस्थाओं में निहित मूल्यों को हिलाकर रख दिया है। हम देखते हैं कि भारत की परंपरागत शिक्षा व्यवस्था, सदैव सामाजिक न्याय से संबद्ध रही है, भारतीय संविधान ने भी शैक्षिक अवसरों की समानता की अवधारणा को स्वीकार किया है, किंतु निजीकरण की व्यवस्थाओं से स्थितियाँ बदली हैं। यहाँ सबसे पहले शिक्षा के निजीकरण के आशय पर नज़र डालें —

निजीकरण

ऑक्सफ़ोर्ड अंग्रेज़ी शब्दकोश के अनुसार निजीकरण शब्द का उपयोग 1942 में इकोनॉमिक जर्नल में हुआ था। एडवर्ड्स के अनुसार 1930 के दशक में नाजी जर्नल द्वारा आर्थिक नीति को कवर करने के लिए इस शब्द को गढ़ा गया। एक व्यापक अर्थ में निजीकरण राजस्व संग्रहण तथा कानून प्रवर्तन जैसे सरकारी प्रकार्यों सहित, सरकारी प्रकार्यों के निजी क्षेत्र में स्थानांतरण को संदर्भित करता है। प्राचीन ग्रीस में निजीकरण का एक लंबा इतिहास रहा है। रोमन गणराज्य में कर संग्रह, सैन्य आपूर्ति, आर्थिक बलिदान और निर्माण सहित अधिकतर संकाय निजी व्यक्तियों और कंपनियों को दिए जाते थे। विंस्टन चर्चिल की सरकार ने 1950 में ब्रिटिश इस्पात उद्योग का निजीकरण किया था और पश्चिम जर्मनी की सरकार ने 1961 में वोक्सबैगन में अपनी बहुमत हिस्सेदारी के सार्वजनिक शेयरों को छोटे निवेशकों को बेचने सहित, बड़े पैमाने पर निजीकरण प्रारंभ किया, आज यह विश्व के लगभग सभी देशों की आर्थिक नीति का हिस्सा हैं।

बीसवीं शताब्दी का इक्कीसवी सदी में संक्रमण वैश्वीकरण, उदारीकरण, निजीकरण, बाज़ारीकरण व उपभोक्ता संस्कृति के साथ हुआ है। उदारवाद जिसे प्रायः उदारीकरण के नाम से ज़्यादा जाना जाता है, उसने पूंजीवाद को विकसित किया है। 1760 से 1830 की ज़बरदस्त औद्योगिक क्रान्ति के दौर में फ्रांस में फ़िज़ियोक्रेट्स, इंग्लैंड में एडम स्मिथ, रिकार्डो, माल्थस आदि ने इस बात की सिफ़ारिश की कि आर्थिक क्षेत्र में किसी भी प्रकार के राजनीतिक दखल को समाप्त किया जाए। आर्थिक क्षेत्र की स्वतंत्रता को बढ़ावा दिया जाए। यह वो दौर था जिसमें स्वतंत्र समझौते, व्यापार प्रतियोगिता, अर्थव्यवस्था, बाज़ार व बाज़ारू समाज को आर्थिक स्वतंत्रता की ज़रूरत मानते हुए आर्थिक मामलों में राज्य के हस्तक्षेप का विरोध हुआ। समाज के तमाम संदर्भों के साथ शिक्षा का क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं रहा।

सामान्य रूप में निजीकरण का आशय है स्वामित्व में परिवर्तन/सरकारी स्वामित्व के स्थान पर किसी निजी संस्था या उद्यमी का स्वामित्व। निजीकरण मुख्यतः प्रतिस्पर्धा व मुनाफ़े की अवधारणा पर टिका हुआ है। स्वतंत्र भारत ने अपनी सभी व्यवस्थाओं में निजीकरण के माध्यम से मुनाफ़े के इस भाव को शिक्षा के क्षेत्र में भी आने दिया है।

1960 में पीटर एफ़. डेकर ने अपनी पुस्तक '*द एज आफ़ डिस्कंटीन्यूटी*' में निजीकरण को व्यापक अर्थ दिया। इसके बाद उद्योग, व्यापार के साथ-साथ शिक्षा के क्षेत्र में भी इस विचार को बढ़ावा मिला। पश्चिमी देशों में आई परिवर्तन की इस तेज़ी से भारत भी अछूता नहीं रह सका। उसने भी उद्योग व व्यापार के साथ-साथ शिक्षा में निजी निवेश को बढ़ावा दिया। आज भारत में निजीकरण का प्रश्न व्यापार व उद्योग के क्षेत्र में प्रवेश कर चुका है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ दुनिया भर में बेरोक-टोक व्यापार, उद्योग और कल कारखानों का जाल बिछा रही हैं और सरकार ने अपने तमाम बंधनकारी नियमों में ढील दी है, शिक्षा एक लाभकारी बाज़ार के रूप में विकसित हुई है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति—1986 के आरंभ से शिक्षा में निजीकरण के प्रवेश का संकेत मिलने लगा था। इस नीति में उच्च शिक्षा संस्थानों को बेहतर रूप से संचालित करने के लिए चंदा इकट्ठा करना तथा इमारतों के रखरखाव एवं रोज़मर्रा के काम में आने वाले संसाधनों की पूर्ति में स्थानीय लोगों की सहायता की बात कही गई। इस बीच विश्व बैंक द्वारा विकासशील देशों में शिक्षा के खर्च के पैटर्न पर एक रिपोर्ट जारी की गई, जिसमें सलाह दी गई कि आर्थिक संसाधनों की कमी को देखते हुए शिक्षा पर आने वाले खर्च का एक बड़ा हिस्सा अभिभावकों पर डाला जाए। राज्यों में शैक्षिक विकास के लिए उपलब्ध वित्तीय संसाधनों व कार्यक्रमों पर विचार करने एवं धन की कमी के कारण शैक्षिक विकास को अवरुद्ध होने देने के संबंध में विस्तृत आख्यान देने के लिए बम्बई प्रांत के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री खैर की अध्यक्षता में गठित शैक्षिक विकास समिति (1948–50) ने शिक्षा की लागत पूंजी व आवर्ती व्यय में सहयोग के लिए स्वैच्छिक संगठन को प्रोत्साहित किए जाने की सिफ़ारिश की। समिति ने इस बात की भी सिफ़ारिश की, कि शिक्षा के लिए दिया गया सहयोग आय कर के दायरे से मुक्त होना चाहिए।

वर्ष 1991 में ढाँचागत समायोजन के अंतर्गत नरसिम्हाराव सरकार ने आर्थिक उदारीकरण को आगे बढ़ाया। जिससे स्पष्ट हो गया कि उच्च शिक्षा को विश्व बैंक के सुझावों के अनुरूप ढाला जाएगा। उसी दौरान खाड़ी संकट की आड़ में उच्च शिक्षा के बजट में यू.जी.सी. द्वारा 35 प्रतिशत की कटौती की गई तथा विश्वविद्यालयों को निर्देश दिया गया कि वे अपने संसाधन स्वयं जुटाने का प्रयास करें। केंद्र सरकार के निर्देश पर यू.जी.सी. ने 1992 में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति के. पुनैया की अध्यक्षता में एक उच्च स्तरीय समिति का गठन किया। इस समिति का उद्देश्य भारतीय विश्वविद्यालयों के आर्थिक संकट को हल करने और वैकल्पिक संसाधनों की उगाही के संबंध में सुझाव देना था। इस समिति ने 1993 में अपनी रिपोर्ट यू.जी.सी. को सौंपी। इस रिपोर्ट में उच्च शिक्षा के निजीकरण के पक्ष में मत व्यक्त किया गया था। कोई भी समाज जो गरीबी और गैर-बराबरी से जूझ रहा हो, वह विश्वविद्यालयों में हो रही फ़िज़ूलखर्ची के सब्सिडीकरण का समर्थन नहीं कर सकता अथवा संपन्न तबकों को उच्च शिक्षा पर हो रहे खर्च के भुगतान से बचे रहने की इजाज़त नहीं दे सकता, इसलिए उच्च शिक्षा पर हो रहे वास्तविक

खर्च का बड़ा हिस्सा उनसे वसूलना चाहिए। जनार्दन रेड्डी समिति 1992 ने भी उच्च शिक्षा को धीरे-धीरे स्ववित्त पोषित बना दिए जाने की ज़ोरदार सिफ़ारिश की।

शिक्षा के क्षेत्र में निजीकरण के इस खुले समर्थन ने इस ज्ञान व्यवस्था को बढ़ावा दिया है। आज उच्च शिक्षा का एक बड़ा हिस्सा निजी हाथों में है। केंद्र व राज्यों की सरकारों के द्वारा पूर्व में आरोपित बंधनकारी नियमों को काफ़ी हद तक निरस्त व शिथिल किया गया है। शिक्षा के क्षेत्र में भी शिथिलता स्वीकार की गई है। पूर्व प्राथमिक, प्राथमिक व माध्यमिक स्तरों पर खुले अनेक निजी शिक्षा संस्थानो के साथ-साथ अनेक निजी महाविद्यालय व निजी विश्वविद्यालय खोले जा चुके हैं। सरकार ने संस्थाओं को स्ववित्त पोषित मान्यता व व्यवस्था के तहत निजीकरण को बढ़ावा दिया है। चिकित्सा, प्रौद्योगिक, प्रबंधन व अध्यापक शिक्षा के क्षेत्र में तो आज निजी शिक्षा संस्थानों की बाढ़-सी आ गई है। यह सर्वविदित है कि सरकारी प्रबंध और स्वामित्व के विपरीत निजीकरण में प्रतिस्पर्धा बढ़ती है। लागत कम होती है, और गुणवत्ता का उन्नयन होता है। भारत में शिक्षा के क्षेत्र में स्वीकृत निजीकरण की व्यवस्थाओं का उद्देश्य इसी गुणवत्ता को हासिल करना रहा है। किंतु परेशानी का विषय यह है कि तमाम सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक कारणों से शैक्षिक निजीकरण की व्यवस्थाएँ अपने लक्ष्य से भटकी हैं। निजीकरण ने शिक्षा के बाज़ारीकरण को बढ़ावा देकर हमारी शैक्षिक व्यवस्थाओं में निहित सामाजिक न्याय की अवधारणा को प्रभावित किया है।

शिक्षा तथा सामाजिक न्याय

शिक्षा के निजीकरण से उत्पन्न लाभ-हानि के संदर्भ में एक बड़ा मुद्दा सामाजिक न्याय का है। भारत में शिक्षा की व्यवस्थाएँ सदैव सामाजिक न्याय की भावना से पल्लवित होती रही हैं। यही कारण है कि समय-समय पर देश में हुए जनकल्याणकारी आन्दोलनों में शिक्षा एक प्रधान मुद्दा रहा है। भारत के संविधान द्वारा स्वीकृत व्यवस्थाओं में भी यह संकल्पना सर्वोपरि दिखती है। संविधान की 45वीं धारा के तहत अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा का संदर्भ, धारा 30 के तहत अल्पसंख्यकों की शिक्षा संबंधी प्रावधान से जहाँ शिक्षा व सामाजिक न्याय की सम्बद्धता दिखती है, वहीं पिछड़े वर्गों की शिक्षा के विषय में तमाम प्रावधान उनकी पुष्टि भी करते हैं। शिक्षा के निजीकरण की व्यवस्थाएँ इन अवधारणाओं के विपरीत दिखाई देती हैं। यदि न्याय शब्द को एक विचार के रूप मे देखा जाए तो यह शब्द सभी मनुष्यों को समान मानने की धारणा पर आधारित है। सामाजिक न्याय शब्द इस बात का आग्रह करता है कि किसी भी व्यक्ति के साथ कोई भी भेदभाव न किया जाए जो किसी भी प्रकार के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक व सांस्कृतिक पूर्वाग्रह से जुड़े हों। सामाजिक न्याय सदैव इस बात की वकालत करता रहा है कि हममें से हर किसी के पास इतने न्यूनतम संसाधन अवश्य हों कि हम उत्तम जीवन की अपनी संकल्पना को साकार कर सकें। विभिन्न सामाजिक-आर्थिक संदर्भ में, सामाजिक न्याय शब्द का आशय अपने-अपने तरीके से लिया जाता है।

भारत में सामाजिक न्याय का नारा प्रायः वंचित समूहों की राजनीतिक गोलबंदी का आधार बना है। भारत मे बहुसंस्कृतिवाद ने जिन सामुदायिक अधिकारों पर ज़ोर दिया, उनमें से कई अधिकार भारतीय संविधान में स्वीकार किए जा चुके हैं। उनकी सामाजिक स्वीकृति व व्यावहारिक क्रियान्वयन के लिए यह शब्द भारतीय संदर्भों में एक नारा बनकर उभरा है। शैक्षिक व्यवस्थाएँ भी इससे अछूती नहीं है। मित्रा सुस्मिता ने शिक्षा व सामाजिक न्याय को एक-दूसरे से संबद्ध माना व वंचित वर्गों तक शिक्षा पहुँचाने हेतु मुक्त विद्यालयों की उपयोगिता पर ज़ोर दिया।[1] अंबेडकर व उत्पीड़ित जातियों और समुदायों के कई नेता जब समाज के हाशिये पर पड़ी जातियों को न्यायपूर्ण हक दिलाने के लिए खड़े हुए तो उन्हें शिक्षित करने के प्रावधानों का मुद्दा सबसे ऊपर रहा। जॉन राल्स ने 1971 में अपनी किताब '*ए थ्योरी ऑफ़ जस्टिस*' मे इस बात का समर्थन किया था कि समाज के कमज़ोर तबकों की भलाई के लिए राज्य को सक्रिय हस्तक्षेप करना चाहिए। अपने न्याय के सिद्धांत में उन्होंने "हर किसी को समान स्वतंत्रता" के अधिकार की तरफ़दारी की। इसके साथ ही भेदमूलक सिद्धांत के माध्यम से यह स्पष्ट किया कि सामाजिक और आर्थिक अंतर को इस तरह समायोजित किया जाना चाहिए कि सबसे वंचित वर्ग को सबसे ज़्यादा फ़ायदा मिले।[2] हालाँकि, उनके इस सिद्धांत की आलोचना भी हुई। किंतु सामाजिक न्याय संबंधी इस प्रकार की तमाम धारणाओं ने वंचित वर्गों की ज़रूरतों के प्रति समाज को अवश्य ही जगाया। वास्तव में, सामाजिक न्याय एक ऐसा शब्द है जिसने विभिन्न समाजों में विभिन्न तबकों को अपने लिए गरिमामय ज़िंदगी की माँग करने और उसके लिए संघर्ष करने के लिए प्रेरित किया है।

साठ के दशक में पश्चिम में नारीवादी आन्दोलन, नागरिक अधिकार आन्दोलन, लेस्बियन और ट्रांसजेंडर आन्दोलन और पर्यावरण आन्दोलनों का आधार सामाजिक न्याय की धारणा ही रही है। आगे चलकर इन संदर्भों में व्यावहारिक क्रियाकलाप हुए, राजनीति हुई। हाँ, शिक्षा हर पहलू से इनमें केंद्रीय विषय रहा।

भारत में शिक्षा का निजीकरण व सामाजिक न्याय संबंधी जटिलताएँ

आज हमारे देश में लोकतंत्रात्मक शासन प्रणाली है। सामाजिक न्याय को सर्वोपरि रखते हुए लोकतंत्र सदैव व्यक्ति का आदर करता है, वह क्षेत्र, जाति, धर्म व लिंग आदि किसी भी आधार पर भेदभाव नहीं करता, यही कारण है कि भारत की सरकार ने देश के सभी बच्चों, युवकों एवं प्रौढ़ों को बिना किसी भेदभाव, शिक्षा के समान अधिकार दिए हैं। समान अधिकार के साथ समान अवसर प्रदान किए जाने का प्रयास भी यहाँ अहम है। समान अवसर प्रदान करने की दिशा में हमारी आज की मुख्य चुनौतियाँ अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, पिछड़ी जाति के बच्चों की शिक्षा, शारीरिक रूप से विकलांग व मानसिक दृष्टि से पिछड़े बच्चों की शिक्षा, बाल श्रमिकों की शिक्षा, निर्धन वर्ग के बालक-बालिकाओं की शिक्षा व स्त्री शिक्षा आदि है। निःसंदेह हमारी भावनाएँ और हमारी संवैधानिक

व्यवस्थाएँ इनके पक्ष में हैं। किंतु विभिन्न सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक कारणों से शिक्षा के क्षेत्र में निजीकरण की व्यवस्थाओं ने सामाजिक न्याय की हमारी अवधारणा पर चोट की है। "आज शिक्षा के निजीकरण के लाभ तथा हानि दोनों ही दृष्टिगोचर हो रहे हैं। एक ओर जहाँ कुछ उच्चस्तरीय निजी संस्थाएँ प्रतिस्पर्धा के इस युग में उच्च गुणवत्ता की शिक्षा प्रदान करने की दिशा में सक्रिय हैं, वहीं दूसरी ओर निजी शिक्षा संस्थाएँ अपनी छद्म और स्तरहीन योजनाओं के माध्यम से छात्रों व अभिभावकों का आर्थिक शोषण कर रही हैं।"[3]

शिक्षा के क्षेत्र में निजीकरण के समर्थकों का तर्क प्रायः यह है कि व्यावहारिक रूप में निजीकरण स्वामित्व में एक सार्थक परिवर्तन अर्थात् सरकारी स्वामित्व के स्थान पर निजी स्वामित्व को स्वीकार करना मात्र है। निजीकरण वस्तुतः सरकारी व्यवस्था में व्याप्त अकर्मण्यता की स्थिति में सुधार लाने के प्रयासों की परिणति कही जा सकती है। किंतु यहाँ व्यावहारिक सच्चाई यही दिखाई देती है कि शिक्षा के निजीकरण से सरकार अपने शैक्षिक दायित्व से अलग होना चाहती है, साथ ही वह देश में नवीन अभिजात्य वर्ग की स्थापना करना चाहती है, जो भारतीयों को पुनः दो वर्गों में विभक्त कर सके — नवीन अभिजात्य वर्ग, जो उत्तम प्रकार की सुख-सुविधाओं का भोग करने में समर्थ हो, और दूसरा जो इन सुविधाओं से विहीन रहे। प्रथम वर्ग पैसे के बलबूते अपने समस्त कार्य करा सकता है, परंतु दूसरा वर्ग क्षमताओं के होते हुए भी अपनी क्षमताओं का विकास नहीं कर पाता क्योंकि वह उस शिक्षा को प्राप्त करने में असमर्थ है।[4]

हम सभी जानते हैं कि इसके दूरगामी परिणाम बहुत अच्छे नही होंगे। प्रारंभिक शिक्षा के निजीकरण की सबसे ज़बरदस्त मार लड़कियों व निर्धन वर्ग के बच्चों पर पड़ी है। सामाजिक न्याय की अवधारणा पर यह करारी चोट है। आज भी भारत में एक बड़ा तबका गरीबी रेखा के नीचे जीवनयापन करने को विवश है। शिक्षा का निजीकरण उनके अक्षर ज्ञान की संभावनाओं को ही शून्य कर रहा है तथा आगे की राह उनके लिए स्वतः बंद हो जाएगी। हाल के अनुसंधानों में यह पाया गया है कि निजी विद्यालयों का परीक्षा परिणाम बेहतर तो होता है, किंतु ये विद्यालय निर्धन वर्ग के विद्यार्थियों से दूर हैं।[5] हाल ही की एक रिपोर्ट के अनुसार 29 प्रतिशत विद्यार्थी निजी विद्यालयों में अध्ययनरत हैं, मध्यमवर्गी परिवार का अधिकांश हिस्सा अपनें बच्चो को निजी विद्यालयों में भेज रहा है।[6]

निःसंदेह भारतीय समाज स्वतः दो वर्गों में विभाजित हो रहा है। "सरकारी विद्यालयों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों व शिक्षकों की सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक पहचान में बहुत बड़ी खाई है। आज स्थिति यह है कि सरकारी विद्यालयों में लगभग 95 प्रतिशत विद्यार्थी वंचित वर्गों, कथित निम्न जातियों व पहली पीढ़ी के सीखने वाले हैं, वहीं शिक्षक मुख्यतः शहरी व ग्रामीण मध्य वर्ग से आते हैं। इन विद्यालयों के घर और पड़ोस का वातावरण शिक्षा के लिए न तो सहायक होता है और न ही प्रेरणादायी"[7] निजीकरण का सीधा

आघात अभिभावकों की जेब पर पड़ा है। भारत देश की एक बड़ी जनसंख्या आज भी गरीबी रेखा के नीचे जीवनयापन करने को विवश है। समाज का यह वर्ग जो अपनी दो जून की रोटी की जुगत में जूझ रहा है, वह अपने बच्चों की शिक्षा के लिए इन महँगे विद्यालयों की तरफ़ देख भी सकेगा? ऐसा संभव नहीं दिखता। शिक्षा व्यवस्था के नज़रिये से आज का भारत देश दो वर्गों में बंटा दिखता है। एक महँगी फ़ीस से उपलब्ध संसाधन व सुविधाओं के बीच जन्मा उच्च वर्ग व दूसरा सरकारी विद्यालयों में न्यूनतम सहूलियतों के बीच पला-बढ़ा निम्न वर्ग।

बेहतर हो कि हमारी सरकार शिक्षा जैसे मुद्दे पर अपनी ज़िम्मेदारियों से कोई समझौता न करे। सिंह उल्लेख करते है कि एक तरफ़ जहाँ देश में 18–24 आयु वर्ग के कुल 10–12 फ़ीसदी छात्र ही उच्च शिक्षा पा रहे हैं, तो दूसरी तरफ़ देश में लगभग 25–30 फ़ीसदी आबादी गरीबी रेखा के नीचे जीवन यापन कर रही है। देश में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में व्याप्त इस समस्या को लेकर दो प्रमुख कारण बताए जा रहें है जिसमें पहला कारण उच्च शिक्षा के क्षेत्र में घटता सरकारी व्यय तथा दूसरा, देश में मूलभूत सुविधाओं मसलन रोज़ी-रोटी की तलाश में भटकती हमारी आधी आबादी है।[8]

वास्तविकता यह है कि विद्यालयों की स्थापना आज एक सफ़ल लाभकारी उद्योग है। पूर्व प्राथमिक, प्राथमिक व माध्यमिक स्तरों पर खुली अनेक निजी संस्थाओं के साथ-साथ अनेक निजी महाविद्यालय व विश्वविद्यालय भी भारत में खुल चुके हैं। सरकार के द्वारा शिक्षण संस्थाओं को स्ववित्त पोषित मान्यता देने की स्वीकृति के साथ निजी शिक्षण संस्थाओं की देश भर मे बाढ़-सी आ गई है। चिकित्सा, प्रौद्योगिकी, प्रबंधन व अध्यापक शिक्षा के ढेरों निजी संस्थान देश भर में खोले गए हैं। किंतु महँगी फ़ीस व बाज़ारीकरण की मानसिकता के कारण देश के जन-जन से ये शिक्षण संस्थाएं जुड़ नहीं सकी हैं, जायसवाल के अनुसार — सरकार से हर तरह की सहूलियतें मसलन बिजली, पानी इत्यादि लेने वाली निजी शिक्षण संस्थाएँ समाज के प्रति अपेक्षित ज़िम्मेदारी का ईमानदारी से निर्वहन नहीं करती। नतीजा आज देश का गरीब, पिछड़ा व आदिवासी क्षेत्रों से ताल्लुक रखने वाला आम छात्र बेहतर शिक्षा से वंचित हो रहा है तो वहीं वर्तमान औद्योगिक ज़रूरतों के हिसाब से ना तो शोधकार्य हो रहे हैं और ना ही दक्ष लोगों की आपूर्ति हो पा रही है।[9]

शिक्षा व सामाजिक न्याय के संदर्भों में सबसे प्रधान चुनौती शिक्षा के सार्वभौमीकरण की है। शिक्षा का प्रचार देश के जन-जन तक पहुँचे और देश का एक-एक बच्चा शिक्षा के प्रकाश से अभिभूत हो। निजीकरण की व्यवस्थाओं ने भारत में शिक्षा के क्षेत्र की सामाजिक न्याय की इस माँग को पूरा करने में अवरोध उत्पन्न किया है। निजीकरण की व्यवस्थाओं से स्कूल कॉलेज की फ़ीस में बढ़ोतरी हुई है और एक बड़ा तबका शिक्षा प्राप्ति के अवसरों से महरूम हुआ है। ऐसा भी देखा गया है कि व्यावसायिक लाभ से प्रेरित होकर विद्यालय खोले जाने की मानसिकता से देश के दूर-दराज़ के क्षेत्रों में विद्यालयों, महाविद्यालयों के खुलने की संभावनाएँ बढ़ी हैं। आज भी बड़ी संख्या में बच्चे स्कूल जाने से वंचित हैं, क्योंकि उनके आस-पास की जगह पर स्कूल की सुविधा ही नहीं है।

यहाँ सामाजिक न्याय से संबंधित एक अन्य मुद्दा शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत लोगों का भी है। यह ठीक है कि नित नए विद्यालय-महाविद्यालय खुलें। छात्र-छात्राएँ उससे लाभाविन्त हों, किंतु इन संस्थाओं में कार्यरत कर्मचारी, उनकी कार्य दशाएँ, उनकी सेवा शर्तें — ये भी न्यायपूर्ण हों, तो व्यवस्थाएँ अधिक न्यायोचित होंगी। श्रीवास्तव ने उत्तर प्रदेश के गाज़ीपुर ज़िले के स्ववित्त पोषित (प्राइवेट) महाविद्यालयों में शिक्षक प्रशिक्षण की दशा पर किए गए एक अध्ययन में पाया कि इस क्षेत्र के स्ववित्त पोषित महाविद्यालयों में प्राध्यापकों की दयनीय स्थिति सुधरते नहीं बनती। कहने को तो वे बी.एड. प्रशिक्षण संस्थान के प्राध्यापक हैं पर उनका वेतन व स्तर मानकों के अनुरूप नहीं है।[10] यहाँ शिक्षक की कार्य संतुष्टि का मुद्दा भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। शिक्षक, शिक्षा व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग हैं, अतः संदर्भित व्यवस्थाओं में उनके प्रति न्याय की संभावनाओं से किसी भी प्रकार का समझौता उचित नही है। निजीकरण की व्यवस्थाओं ने एक शिक्षक की स्थिति पर भी नकारात्मक प्रभाव डाला है। आज़मी तथा सक्सेना ने अनुदानित स्ववित्त पोषित, माध्यमिक विद्यालयों में कार्यरत शिक्षकों पर किए गए अध्ययन में पाया कि अनुदानित विद्यालयों में कार्यरत शिक्षकों की आर्थिक संतुष्टि, स्ववित्त पोषित विद्यालयों में कार्यरत शिक्षकों की आर्थिक संतुष्टि से अधिक है। यही नहीं, अध्ययन में यह भी पाया गया कि अनुदानित विद्यालयों में कार्यरत शिक्षकों की सामाजिक संतुष्टि, स्ववित्त पोषित विद्यालयों में कार्यरत शिक्षकों की सामाजिक संतुष्टि से अधिक है। निःसंदेह इसका मुख्य कारण समाज द्वारा अनुदानित विद्यालयों को स्ववित्त पोषित विद्यालयों से अधिक महत्व दिया जाना है।"[11]

स्पष्ट है कि अभिभावकों को आर्थिक शोषण से, छात्रों को शैक्षिक शोषण से तथा अध्यापकों को वृत्तिक शोषण से बचाने के लिए एवं शिक्षा की गुणवत्ता बनाए रखने के लिए उनपर सरकार का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष कुछ-न-कुछ नियंत्रण अवश्य होना चाहिए। इस प्रकार के नियंत्रण के अभाव में शिक्षा का पूर्ण निजीकरण करना अथवा शैक्षिक निजीकरण का अंधानुकरण करना देश, समाज व शिक्षा जगत के भविष्य के लिए घातक सिद्ध हो सकता है। राजनीतिक संकल्प और दृढ़ आस्था यह होनी चाहिए कि प्रारंभिक शिक्षा (कक्षा 1 से 8) भावी भारत के लिए अनिवार्य निवेश है, अतः हर संभव प्रयास से इसके लिए धनराशि की व्यवस्था की जानी चाहिए। इसके लिए दान, उद्योग कर आदि की व्यवस्था होनी चाहिए।[12]

उपयुक्त विवेचना द्वारा स्पष्ट है कि वर्तमान आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के बीच विकास और वैश्वीकरण के संदर्भों में शिक्षा का निजीकरण एक ज़रूरत है, यहाँ सत्य यह भी है कि निजीकरण के अनेक सकारात्मक पहलू भी हैं, किंतु जटिलता यह है कि भारत में शिक्षा के निजीकरण का गलत फ़ायदा शैक्षिक प्रशासन व प्रबंधन से जुड़े हुए वर्ग ने उठाने की कोशिश की है, जिससे हमारे शैक्षिक उद्देश्यों में निहित सामाजिक न्याय की भावना आहत हुई है। महँगी शिक्षा, झूठी शान-शौकत, विद्यालयी परिवेश

Chapter 9.indd 88 03-08-2017 12:55:49

का भारतीय परिवेश से भिन्न होना, लाभ-हानि के फ़ेर में शिक्षा के समान अवसरों की अवहेलना, विद्यालयों-महाविद्यालयों में प्रवेश का आर्थिक आधार व विद्यार्थी की योग्यता की अनदेखी आदि ऐसी स्थितियाँ हैं, जिसने शिक्षा के माध्यम से समाज मे वर्ग भेद की जड़ को मज़बूत किया है। बाज़ारीकरण पर आधारित इस व्यवस्था में भारतीय सभ्यता व संस्कृति की तो अवहेलना हुई है, छात्र-छात्राओं को पाश्चात्य सभ्यता के प्रति आकर्षित कर इन विद्यालयों ने ऐसे दो राहे पर खड़ा किया है, जहाँ वे सही दिशा के प्रति भ्रमित हैं। अतः अत्यावश्यक दिखाई देता है कि हमारी व्यवस्थाएँ शिक्षा के निजीकरण से उत्पन्न समस्याओं के प्रति सचेत हों। आज यह ज़रूरी दिखता है कि निजी संस्थाओं में शिक्षा की गुणवत्ता बनाए रखने एवं अभिभावकों और अध्यापकों को आर्थिक शोषण से बचाए रखने के प्रावधान अवश्य रखे जाएँ। शैक्षिक उद्दश्यों, शिक्षा के लक्ष्य, यदि वर्ग विशेष की उन्नति से संबद्ध हुए, शिक्षा के प्रचार-प्रसार में यदि योग्यता की अनदेखी हुई तो हमारी आने वाली पीढ़ियाँ दो वर्गों मे बंटी हुई नज़र आएँगी, जिससे अन्य अनेक सामाजिक परेशानियाँ जन्म लेंगी।

यहाँ बेहतर यही होगा कि व्यवस्थाएँ कुछ इस भाव से बनें, कुछ ऐसे वेग से बहें कि उसके बहाव में समाज का एक-एक वर्ग, एक-एक तबका खुशनुमा, रंगीन होता चले। शिक्षा के माध्यम से अपनी धरती पर फ़ैलते प्रकाश में यदि ऐसे अवरोध उत्पन्न हुए कि धरती का एक हिस्सा प्रकाश की तेज़ी से चुँधिया गई आँख से कुछ देख ही न सके और दूसरा प्रकाश के विस्तार में आए अवरोध से इतना धुंधला हो कि धुंधले प्रकाश में कुछ दिखता ना हो, तो हर ओर अंधेरा ही अंधेरा होगा। कहीं रोशनी की अधिकता का तो कहीं रोशनी के धुंधलेपन से उठे अंधियारे का। बेहतर तो यही होगा कि हमारी व्यवस्थाएँ कुछ ऐसी सुगठित हों कि प्रकाश हर ओर फ़ैले। रोशनी का दिव्य हर नज़र को दृष्टि और दिशा दे।

टिप्पणी

[1]मित्रा, सुस्मिता. *सोशल जस्टिस इन एजुकेशन द रोल ऑफ़ ओपेन स्कूल. httPs://winieducator*.org PID –136.

[2]जॉन, राल्स. 1971. *ए थ्योरी ऑफ़ जस्टिस*. ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.

[3]गुप्ता, एम.पी. और अलका गुप्ता. 2012. *भारतीय शिक्षा का इतिहास, विकास एवं समस्याएँ*. शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद. पृ. 707.

[4]पाठक, पी.डी. और जी.एम.डी. त्यागी. 2000. *शिक्षा के सामान्य सिद्धांत*. विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा. पृ. 674.

[5]*एजुकेशन इन इंडिया*. wikipedia org.

[6]____. वही ____.

[7]प्रसाद, पारथ और मधु कुशवाहा. 2012. 'सरकारी प्राथमिक विद्यालय का वातावरण'. *अभिनव*. राज्य शैक्षिक प्रबंधन एवं प्रशिक्षण संस्थान, इलाहाबाद. पृ.16.

[8]सिंह, जे. पी.. 2003. 'इक्कीसवीं सदी का भारत और शिक्षा संकट — एक अवलोकन.' *कुरूक्षेत्र*. सितम्बर. पृ. 7 – 10.

[9]जायसवाल, राजेश कुमार. 2014. 'देश में उच्च शिक्षा का मात्रात्मक, गुणात्मक विकास एवं निजीकरण.' *भारतीय आधुनिक शिक्षा.* 34, 4. अप्रैल 2014. पृ. 106.

[10]श्रीवास्तव, राजेश कुमार. 2013. 'उत्तर प्रदेश के गाज़ीपुर ज़िले के स्ववित्त पोषित महाविद्यालयों मे शिक्षक-प्रशिक्षण की दशा — एक झलक.' *भारतीय आधुनिक शिक्षा.* 34, 1, जुलाई 2013. पृ. 65 – 68.

[11]आज़मी, कायनात और दीप्ति सक्सेना. 2011. 'स्ववित्त पोषित तथा अनुदानित माध्यमिक विद्यालयों में कार्यरत विज्ञान विषय के शिक्षकों की कार्य संतुष्टि का तुलनात्मक अध्ययन.' *शिक्षा चिंतन.* त्रिमूर्ति संस्थान कानपुर. पृ. 39 – 43.

[12]पाठक, पी. डी. और जी. एस. डी. त्यागी. 2000. *शिक्षा के सामान्य सिद्धांत*. पूर्व संदर्भित. पृ. 676